

अनेकान्त दर्शन की पृष्ठभूमि

ज्ञान सदाचारको जन्म दे सकता है यदि उसका उचित दिशामें उपयोग हो, अतः ज्ञान मात्र ज्ञान होनेसे ही सदाचार और शान्तिवाहकके पदपर नहीं पहुँच सकता। हाँ, जो ज्ञान-जीवन साधनासे फलित होता है उस स्वानुभवका तत्त्वज्ञानत्व और जीवनोन्नायक सर्वोदयी स्वरूप निर्विवाद रूपसे स्वतःसिद्ध है। पर प्रश्न यह है कि—तत्त्वज्ञानके बिना क्या केवल आचरणमात्रसे जीवनशुद्धि हो सकती है? क्या कोई भी धर्म या पन्थ समाज या संघमें बिना तत्त्वज्ञानके सदाचारमात्रसे, जो कि प्रायः सामान्य रूपसे सभी धर्मोंमें स्वीकृत है, अपनी उपयोगिता और विशेषता बता सकता है और अपने अनुयायियोंकी श्रद्धाको जीवित रख सकता है?

बुद्धका अव्याकृतवाद

बुद्ध और महावीर समकालीन समदेश और सम संस्कृतिके प्रतिनिधि थे। दार्शनिक प्रश्नोंके सम्बन्धमें बुद्धका दृष्टिकोण था कि आत्मा लोक-परलोक आदिके शाश्वत-अशाश्वत आदि विवाद निरर्थक हैं। वे न तो ब्रह्मचर्यके लिए उपयोगी हैं और न निर्वेद उपशम अभिज्ञा सम्बोध या निर्वाणके लिए ही।

मज्झिमनिकाय (२।२।३) के चूलमालुङ्क्य सूत्रका संवाद इस प्रकार है—

“एक बार मालुङ्क्यपुत्तके चित्तमें यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि भगवान्ने इन दृष्टियोंको अव्याकृत (अकथनीय) स्थापित (जिनका उत्तर रोक दिया जाय) प्रतिक्षिप्त (जिनका उत्तर देना अस्वीकृत हो गया) कर दिया है—१-लोक शाश्वत है? २-लोक अशाश्वत है? ३-लोक अन्तवान् है? ४-लोक अनन्त है? ५-जीव और शरीर एक है? ६-जीव दूसरा और शरीर दूसरा है? ७-मरनेके बाद तथागत होते हैं? ८-मरनेके बाद तथागत नहीं होते? ९-मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते हैं? १०-मरनेके बाद तथागत न होते हैं और न नहीं होते? इन दृष्टियोंको भगवान् मुझे नहीं बतलाते, यह मुझे नहीं रुचता—मुझे नहीं खभता। सो मैं भगवान्के पास जाकर इस बातको पूछूँ। यदि मुझे भगवान् कहेंगे तो मैं भगवान्के पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा। यदि मुझे भगवान् न बतलाएँगे तो मैं भिक्षुशिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीन (गृहस्थाश्रम) में लौट जाऊँगा।

मालुङ्क्यपुत्तने बुद्धसे कहा कि यदि भगवान् उक्त दृष्टियोंको जानते हैं तो मुझे बताएँ। यदि नहीं जानते तो न जानने समझनेके लिए यही सीधी (बात) है कि वह (साफ कह दें) मैं नहीं जानता। मुझे नहीं मालूम।

बुद्धने कहा—

“क्या मालुङ्क्यपुत्त, मैंने तुझसे यह कहा था कि—आ मालुङ्क्यपुत्त, मेरे पास ब्रह्मचर्यवास कर, मैं तुझे बतलाऊँगा लोक शाश्वत है आदि।”

“नहीं भन्ते” मालुङ्क्यपुत्तने कहा।

“क्या तूने मुझसे यह कहा था—मैं भन्ते, भगवान्के पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा, भगवान् मुझे बतलायें लोक शाश्वत है आदि” “नहीं भन्ते”।

“इस प्रकार मालुङ्क्यपुत्त, न मैंने तुझसे कहा था कि आ.....न तूने मुझसे कहा था कि भन्ते....। फिर मोघ पुरुष (फजूलके आदमी) तू क्या होकर किसका प्रत्याख्यान करेगा ?

मालुङ्क्यपुत्त, जो ऐसा कहे—मैं तब तक भगवान्के पास ब्रह्मचर्यवास न करूँगा जबतक भगवान्

मुझे यह न बतलावें—लोक शाश्वत है आदि, फिर तथागतने तो उन्हें अव्याकृत किया है, और वह (बीचमें ही) मर जायगा । जैसा मालुंक्यपुत्त कोई पुरुष गाढ़े लैपधालि विषसे युक्त बाणसे बिधा हो उसके हित-मित्र भाई-बन्द चिकित्सकको ले आवें और वह (धायल) यह कहे कि मैं तबतक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा जबतक अपने बेधनेवाले उस पुरुषको न जान लूँ कि वह ब्राह्मण है ? क्षत्रिय है ? वैश्य है ? शूद्र है ? अमुक नामका, अमुक गोत्रका है ? लम्बा है, नाटा है, मँझोला है ? आदि । जबतक कि उस बेधनेवाले धनुष-को न जान लूँ कि चाप है या कोदण्ड । ज्याको न जान लूँ कि वह अर्ककी है या संठेकी ?....तो मालुंक्य-पुत्त, वह तो अज्ञात ही रह जायेंगे और यह पुरुष मर जायगा । ऐसे ही मालुंक्यपुत्त, जो ऐसा कहे मैं तब तक ...और वह मर जायगा । मालुंक्यपुत्त, लोक शाश्वत है । इस दृष्टिके होनेपर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ? ऐसा नहीं । लोक अशाश्वत है, इस दृष्टिके होनेपर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ? ऐसा भी नहीं । मालुंक्यपुत्त, चाहे लोक शाश्वत है यह दृष्टि रहे, चाहे लोक अशाश्वत है यह दृष्टि रहे, जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक रोना कादना दुःख दीर्घमनस्य परेशानी हैं ही, जिनके इसी जन्ममें विधातको मैं बत-लाता हूँ ।.....

इसलिये मालुंक्यपुत्त, मेरे अव्याकृतको अव्याकृतके तौरपर धारणकर और मेरे व्याकृतको व्याकृतके तौरपर धारण करें ।^१

इस संवादसे निम्नलिखित बातें फलित होती हैं—

१—बुद्धने आत्मा लोक परलोक आदि तत्त्वोंकी चरचामें न अपनेको उल्लेख किया और न शिष्यों को ।

२—लोकको चाहे शाश्वत माना जाय या अशाश्वत; उससे ब्रह्मचर्य धारण करनेमें कोई बाधा नहीं है ।

३—बुद्धके उपदेशको धारण करनेकी यह शर्त भी नहीं है कि शिष्यको उक्त तत्त्वोंका ज्ञान कराया ही जाय ।

४—बुद्धने जिन्हें व्याकृत कहा उन्हें व्याकृत रूपसे और जिन्हें अव्याकृत कहा उन्हें अव्याकृत रूपसे ही धारण करना चाहिए ।

उस समयका वातावरण

आजसे २५००-२६०० वर्ष पहिलेके धार्मिक वातावरणपर निगाह फेरें तो मालूम होगा कि उस समय लोक परलोक आत्मा आदिके विषयमें मनुष्यकी जिज्ञासा जग चुकी थी । वह अपनी जिज्ञासाको अनुप-योगिताके आवरणमें भीतर ही भीतर मानसिक हीनताका रूप नहीं लेने देना चाहता था । जिन दस प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत रखा, उनका बताना अनुपयोगी कहा, सच पूछा जाय तो धर्म धारण करनेकी आधारभूत बातें वे ही हैं । यदि आत्माके स्वतन्त्र द्रव्य और परलोकगामित्वका विश्वास न हो तो धर्मका आधार ही बदल जाता है । प्रज्ञा पारमिताओंकी परिपूर्णताका क्या अर्थ रह जाता है । 'विश्वके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है ? वह कैसा है ? यह बोध हुए बिना हमारी चर्याका संयत रूप ही क्या हो सकता है । यह ठीक है कि इनके वाद-विवादमें मनुष्य न पड़े पर यदि जरा, मरण, वेदना, रोग आदिके आधारभूत आत्माकी ही प्रतीति न हो तो दुष्कर ब्रह्मचर्यवास कौन धारण करे ? बुद्धके समयमें ६ परिव्राजक थे जिनके संघ थे और जिनकी तीर्थकरके रूपमें प्रसिद्धि थी । सबका अपना तत्त्वज्ञान था । पूर्णकश्यप अक्रियावादी, मक्खलि

१. मज्झिमनिकाय हिन्दी अनुवाद ।

गोसाल दैववादी, अजितकेश कम्बल जड़वादी, प्रक्रुध कात्यायन अकृततावादी और संजयवेलट्टिपुत्त अनिश्चयवादी थे ।

वेद और उपनिषद्के भी आत्मा परलोक आदिके सम्बन्धमें अपने विविध मतभेद थे । फिर श्रमण-संघमें दीक्षित होनेवाले अनेक भिक्षु उसी औपनिषद् तत्त्वज्ञानके प्रतिनिधि वैदिक वर्गसे भी आए थे । अतः जबतक उनकी जिज्ञासा तृप्त नहीं होगी तबतक वे कैसे अपने पुराने साथियोंके सन्मुख उन्नतशिर होकर अपने नये धर्म धारणकी उपयोगिता सिद्ध कर सकेंगे ? अतः व्यावहारिक दृष्टिसे भी इनके स्वरूपका निरूपण करना उचित ही था । तीरसे घायल व्यक्तिका तत्काल तीर निकालना इसलिये प्रथम कर्तव्य है कि उसका असर सीधा शरीर और मनपर हो रहा था । यदि वह विषैला तीर तत्काल नहीं निकाला जाता तो उसकी मृत्यु हो सकती है । पर दीक्षा लेनेके समय तो प्रश्नोंका अटकाव नहीं है । जब एक तरफ यह धोषणा की है—“परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्बचो न त्वादरात्” अर्थात् भिक्षुओ, मेरे वचनोंको अच्छी तरह परीक्षा करके ही ग्रहण करना, मात्र मुझमें आदर होनेके कारण नहीं” तो दूसरी ओर मुद्देके प्रश्नोंको अव्याकृत रखकर और उन्हें मात्र श्रद्धासे अव्याकृत रूपमें ही ग्रहण करनेकी बात कहना सुसंगत तो नहीं मालूम होता ।

भगवान् महावीरकी मानस अहिंसा

भगवान् महावीरने यह अच्छी तरह समझा कि जब तक बुनियादी तत्त्वोंका वस्तु स्थितिके आधारसे यथार्थ निरूपण नहीं होगा तब तक संघके पंचमेल व्यक्तियोंका मानस रागद्वेष आदि पक्ष भूमिकासे उठकर तटस्थ अहिंसाकी भूमिपर आ ही नहीं सकता और मानस संतुलनके बिना वचनोंमें तटस्थता और निर्दोषता आना सम्भव ही नहीं । कायिक आचार भले ही हमारा संयत और अहिंसक बन जाय पर इससे आत्मशुद्धि तो हो नहीं सकती, उसके लिए तो मनके विचारोंको और वाणीकी वितण्डा प्रवृत्तिको रास्तेपर लाना ही होगा । इसी विचारसे अनेकान्तदर्शन तथा स्याद्वादका आविर्भाव हुआ । महावीर पूर्ण अहिंसक योगी थे । उनको परिपूर्ण तत्त्वज्ञान था । वे इस बातकी गंभीर आवश्यकता समझते थे कि तत्त्वज्ञानके पायेपर ही अहिंसक आचारका भव्य प्रासाद खड़ा किया जा सकता है । दृष्टान्तके लिये हम यज्ञहिंसा सम्बन्धी विचारको ही लें । याज्ञिकोंका यह दर्शन था कि—पशुओंकी सृष्टि स्वयम्भूने यज्ञके लिये ही की है, अतः यज्ञमें किया जाने-वाला वध वध नहीं है, अवध है । इसमें दो बातें हैं—१—ईश्वरने सृष्टि बनाई है और २—पशु सृष्टियज्ञके लिये ही है । अतः यज्ञमें किया जानेवाला पशुवध विहित है ।

इस विचारके सामने जबतक यह सिद्ध नहीं किया जायगा कि सृष्टिकी रचना ईश्वरने नहीं की है किन्तु यह अनादि है । जैसा हमारी आत्मा स्वयंसिद्ध है वैसे ही पशुकी आत्मा भी । जैसे हम जीना चाहते हैं, हमें अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही पशुको भी । इस लोकमें किये गये हिंसा कर्मसे परलोकमें आत्माको नरकादि गतियोंमें दुःख भोगने पड़ते हैं । हिंसासे आत्मा मलिन होती है । यह विश्व अनन्त जीवोंका आवास है । प्रत्येकका अपना स्वतःसिद्ध स्वातन्त्र्य है अतः मन, वचन, कायगत अहिंसक आचार ही विश्वमें शान्ति ला सकता है तब तक किसी समझदारको यज्ञवधकी निस्सारता, अस्वाभाविकता और पापरूपता कैसे समझमें आ सकती है ।

जब शाश्वत-आत्मवादी अपनी सभामें यह उपदेश देता हो कि आत्मा कूटस्थ नित्य है, निर्लेप है, अवध्य है, कोई हिंसा नहीं, हिंसा नहीं । और खच्छेववादी यह कहता हो कि मरनेपर यह जीव पृथिवी आदि भूतोंसे मिल जाता है, उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता । न परलोक है, न मुक्ति ही । तब आत्मा और परलोकके सम्बन्धमें मौन रखना तथा अहिंसा और दुःख निवृत्तिका उपदेश देना सचमुच बिना नींवके मकान

३३६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

बनानेके समान ही है। जिज्ञासु पहिले यह जानना चाहेगा कि वह आत्मा क्या है जिसे जन्म, जरा, मरण आदि दुःख हैं और जिसे ब्रह्मचर्यवासके द्वारा दुःखोंका नाश करना है? यदि आत्माकी जन्मसे मरण तक ही सत्ता है तो इस जन्मकी चिन्ता ही मुख्य करनी है और यदि आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है तो उसे निर्लिप्त मानने पर ये अज्ञात दुःख आदि कैसे आए?

यही वह पृष्ठभूमि है जिसने भ० महावीरको सर्वाङ्गीण अहिंसाकी साधनाके लिए मानस अहिंसाके जीवन्तरूप अनेकान्त दर्शन और वाचनिक अहिंसाके निर्दुष्ट रूप स्याद्वादकी विवेचनाके लिए प्रेरित किया।

अनेकान्त दर्शन

अनन्त स्वतन्त्र आत्माएँ, अनन्त पुद्गल परमाणु एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्य कालाणु द्रव्यके समूहको ही लोक या विश्व कहने हैं। इसमें धर्म-अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंका विभाव परिणमन नहीं होता। वे अपने स्वाभाविक परिणमनमें लीन रहते हैं। आत्मा और पुद्गल द्रव्योंके परस्पर संयोग विभागसे ये पर्वत, नदी, पृथिवी आदि उत्पन्न होते रहते हैं। इनका नियन्ता कोई ईश्वर नहीं है। सब अपने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परिणमनमें अपने-अपने संयोग-वियोगोंके आधारसे नाना आकारोंको धारण करते रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मोंका अविरोधी अखण्ड आधार है। उसके विराट् रूपको शब्दोंसे कहना असम्भव है। उस अनन्तधर्मा या अनेकान्त वस्तुके एक-एक धर्मको जानकर और उस अंशग्रहमें पूर्णताका भान करनेवाले ये मतग्रह हैं जो पक्षभेदकी सृष्टि करके राग-द्वेष, संघर्ष, हिंसाको बढ़ा रहे हैं। अतः मानस अहिंसाके लिये वस्तुके 'अनेकान्त' स्वरूप दर्शनकी आवश्यकता है। जब मनुष्य वस्तुके विराटरूप तथा अपने ज्ञानकी आंशिक गतिको निष्पक्ष भावसे देखेगा तो उसे सहज ही यह भान हुए बगैर नहीं रह सकता कि दूसरोंके ज्ञान भी वस्तुके किसी एक अंशको देख रहे हैं अतः उनकी सहानुभूतिपूर्वक समीक्षा होनी चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र काल, भावकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुके विचार करनेकी पद्धति अनेकान्त दर्शनका ही फल है।

तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने गुण और पर्याय रूपसे परिणमन करता हुआ अनन्त धर्मोंका युगपत् आधार है। हमारा ज्ञान स्वल्प है। हम उसके एक-एक अंशको छूकर उसमें पूर्णताका अहंकार—'ऐसा ही है' न करें, उसमें दूसरे धर्मोंके 'भी' अस्तित्वको स्वीकार करें। यह है वह मानस उच्च भूमिका जिसपर आनेसे मानस राग-द्वेष, अहंकार, पक्षाभिनिवेश, साम्प्रदायिक मताग्रह, हठवाद वितण्डा, संघर्ष, हिंसा, युद्ध आदि नष्ट होकर परसमादर तटस्थता, सहानुभूति, मध्यस्थ भाव, मैत्री-भावना, सहिष्णुता, वीतरागकथा, अन्ततः विनय कृतज्ञता, दया आदि सात्त्विक मानस अहिंसाका उदय होता है। यही अहिंसक तत्त्वज्ञानका फल है। आचार्योंने ज्ञानका उत्कृष्ट फल उपेक्षा-रागद्वेष न होकर मध्यस्थ अनासक्त भावका उदय ही बताया है।

स्याद्वाद-अमृत भाषा

इस तरह जब मानस अहिंसाकी सात्त्विक भूमिकापर यह मानव आ जाता है तब पशुताका नाश हो जाता है, दानव मानवमें बदल जाता है। तब इसकी वाणोमें तरलता, स्नेह, समादर, नम्रता और निरहंकारता आदि आ जाते हैं। स्पष्ट होकर भी विनम्र और हृदयग्राही होता है। इसी निर्दोष भाषाको स्याद्वाद कहते हैं। स्यात् वाद अर्थात् यह बात स्यात् अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे वाद-कही जा रही है। यह 'स्यात्' शब्द दुलुमुल्यकीनी शायद संभवतः कदाचित् जैसे संशयके परिवारसे अत्यन्त दूर है। यह अंश निश्चयका प्रतीक है और भाषाके उस डंकको नष्ट करता है जिसके द्वारा अंशमें पूर्णताका दुराग्रह,

कदाग्रह और हठाग्रह किया जाता है। यह उस सर्वहारा प्रवृत्तिको समाप्त करता है जो अपने हकके सिवाय दूसरोंके श्रम और अस्तित्वको समाप्त करके संघर्ष और हिंसाको जन्म देती है। यह स्याद्वाद अमृत उस महान् अहंकार विषय ज्वरकी परमौषधि है जिसके आवेशमें मानव तनधारी तूफानके बबूलेकी तरह जमीनपर पैर ही नहीं टिकाता और जगत्में शास्त्रार्थवाद विवाद धर्मदिग्विजय मतविस्तार जैसे आवरण लेता है। दूसरोंको बिना समझे ही नास्तिक पशु मिथ्यात्वी अपसद प्राकृत ग्राम्य धृष्ट आदि सम्य गालियोंसे सन्मानित (?) करता है। 'स्याद्वाद' का 'स्यात्' अपनेमें सुनिश्चित है और महावीरने अपने संघके प्रत्येक सदस्यकी भाषाशुद्धि इसीके द्वारा की। इस तरह अनेकान्त दर्शनके द्वारा मानस शुद्धि और स्याद्वादके द्वारा वचन शुद्धि होनेपर ही अहिंसाके बाह्याचार, ब्रह्मचर्य आदि सजीव हुए, इनमें प्राण आए और मन, वचन और कामके यत्नाचारसे इनकी अप्रमाद परिणतिसे अहिंसा-मन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठा हुई। महावीरने बार-बार चेतावनी दी कि—'समयं गोयम या पमायए'—गौतम, इस आत्ममन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठामें क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

आचारकी परम्पराका मुख्य पाया तत्त्वज्ञान

इस तरह जब तक बुनियादी बातोंका तत्त्वज्ञान न हो तबतक तो केवल सदाचार और नैतिकताका उपदेश सुननेमें सुन्दर लगता है पर वह बुद्धि तर्क जिज्ञासा, मीमांसा समीक्षा और समालोचनाकी तृप्ति नहीं कर सकता। जब तक संघके मानस विकल्प नहीं हटेंगे तब तक वे बौद्धिकहीनता, मानसदीनताके तामस भावोंसे त्राण नहीं पा सकते और चित्तमें यथार्थ निर्बेर वृत्तिका उदय नहीं कर सकते। जिस आत्माके यह सब होता है यदि उसके ही स्वरूपका भान न हो तो मात्र अनुपयोगिताका सामयिक समाधान शिष्योंके मुँहको बन्द नहीं रख सकता। आखिर मालुङ्गपुत्तने बुद्धको साफ-साफ कह दिया कि आप यदि नहीं जानते तो साफ-साफ क्यों नहीं कहते कि मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम।

जिन प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत रखा उनका महावीरने अनेकान्तदृष्टिसे स्याद्वाद भाषाके निरूपण किया। उनने आत्माको द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत, पर्यायदृष्टिसे अशाश्वत बताया। यदि आत्मा कूटस्थ निरूपण सदा अपरिवर्तनशील माना जाता तो पुण्य-पाप सब व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि उनका असर आत्मापर तो पड़ेगा नहीं। यदि आत्मा क्षण विनश्वर और धाराविहीन निःसन्तान सर्वथा नवोत्पादवाला है तो भी कृष्ण-कर्मकी निष्फलता होती है, परलोक नहीं बनता। अतः द्रव्य-दृष्टिसे धारा-प्रवाही प्रतिक्षण परिवर्तित संस्कार-ग्राही आत्मामें ही पुण्य-पाप कर्तृत्व सदाचार ब्रह्मचर्यवास आदि सार्थक होते हैं। इसमें न औपनिषदोंकी तरह शाश्वतवादका प्रसंग है और न जड़वादियोंकी तरह उच्छेदवादका डर है और न उसे उभयनिषेधक 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' जैसे विधि-विहीन शब्दसे निर्देश करनेकी ही आवश्यकता है।

यही सब विचारकर भगवान् महावीरने लोक-परलोक, आत्मा आदि सभी पदार्थोंका अनेकान्तदृष्टिसे पूर्ण विचार किया और स्याद्वादवाणीसे उसके निरूपणका निर्दोष प्रकार बताया। यह जैनदर्शनकी पृष्ठ-भूमि है जिसपर उत्तरकालीन आचार्योंने शतावधि ग्रन्थोंकी रचना करके भारतीय साहित्यागारको अलौकित किया। अकेले 'स्याद्वाद' पर ही बीसों छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे गये हैं। इस अनेकान्तके विशाल सागर में सब एकान्त समा जाते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके शब्दोंमें ये स्याद्वादमय जिन वचन मिथ्यादर्शनके समूह रूप हैं। इसमें समस्त मिथ्यादृष्टियाँ अपनी-अपनी अपेक्षासे विराजमान हैं। और अमृतसार या अमृतस्वादु हैं। वे तटस्थ वृत्तिवाले संविग्न जीवोंको अतिशय सुखदायक हैं। वे जगत् का कल्याण करें—

“भट्टं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।

जिणवयणस्स भगवओ संविग्गमुहाहिगम्मस्स ॥”

१. देखो, प्रो० दलमुख मालवणिया लिखित जैन तर्कवार्तिक की प्रस्तावना।